उत्तराध्ययन, गीता और धम्मपद : एक तुलना

—**उदयचन्द्र प्रभाकर, शास्त्री, शास्त्राचार्य**
जैनदर्शनाचार्य, एम० ए० (हिन्दी, पाली-प्राकृत)
[**जंवरीबाग, नसिया, इन्दौर (मध्य प्रदेश)**]

☐

चिन्तनशील व्यक्तियों के विचारों का आधार देश-काल की परिस्थिति पर निर्भर रहता है। भारतीय चिन्तकों की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक रही है। यद्यपि संस्कृति और सभ्यता का समय-समय पर ह्रास हुआ है, फिर भी सम्पूर्ण भारतीय परम्परा में सत्य का अंश किसी न किसी रूप में मौजूद रहा है। वैदिककाल से लेकर आधुनिक युग तक वही धारा, वही विचार तथा वही दृष्टि दिखाई पड़ती है। वैदिक विचारों का कथन करने वाली गीता जन-मन के विचारों को उस ओर मोड़ लेती है, जिस ओर कर्मयोगी श्रीकृष्ण का उपदेश होता है। उत्तराध्ययन उत्तमोत्तम प्रकरणों द्वारा आत्मा को पवित्र बनाने के साथ-साथ महावीर के सिद्धान्तों का रहस्य प्रकट करता है। धम्मपद एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें नैतिक सदाचार, दुःखमय संसार से छुटकारा पाने के उपाय बताये गये हैं तथा बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित चार आर्यसत्य, आर्याष्टाङ्गिक मार्ग का उद्बोधन भली-भाँति प्राप्त हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा का कथन अन्य बहुत से ग्रन्थों में भी है, पर प्राकृत-साहित्य में उत्तराध्ययन का कई दृष्टियों से अधिक महत्व है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञान को अनेकों उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कर दिया है। भद्रबाहु स्वामी द्वारा कथित यह गाथा विचारणीय है—

जे किर भवसिद्धिया, परित्त संसारिआ य भविआ य।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे॥

अर्थात् जो भवसिद्धिक जीव शीघ्र ही मुक्ति पाने वाले हैं, जिनका संसार-भ्रमण बहुत थोड़ा रह गया है, ऐसे भव्य आत्मा ही छत्तीस अध्ययनों वाले उत्तराध्ययन को भावपूर्वक पढ़ते हैं।

गीत का महत्व महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में दिया है—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैशास्त्रविस्तरैः

अर्थात् श्री गीता को भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भाव सहित अन्तःकरण में धारण कर लेना मुख्य कर्त्तव्य है।

धम्मपद बौद्धधर्म के सिद्धान्तों एवं साधनामार्ग को स्पष्ट करने वाली कृति है। इसमें नैतिक दृष्टि को अधिक महत्व दिया गया है।

ये तीनों ग्रन्थ किसी न किसी उद्देश्य का कथन करने वाले हैं। गीता यदि महाभारत का अंश है, तो, 'धम्मपद' खुद्दकनिकाय का एक अंश है। इसकी स्वतन्त्र रचना नहीं है। फिर भी सभी का अपना-अपना प्रतिपाद्य विषय है। उत्तराध्ययन ज्ञान, कर्म के साथ तत्त्वज्ञान को अधिक महत्व देता है। श्रीमद्-भगवद्गीता ज्ञान, कर्म और भक्ति को तथा 'धम्मपद' केवल कर्म को, वह भी सत्कर्म को। इन तीनों का पृथक-पृथक मूल्यांकन करना अत्यन्त आवश्यक है।

समस्त भारतीय दर्शनों का एकमात्र उद्देश्य दुःख से निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति रहा है। और परमात्मपद आध्यात्मिक साधनों द्वारा ही संभव है। इसलिए भारतीय चिंतकों ने आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में विविध तत्त्वज्ञान का सरल रूप में प्रतिपादन किया गया है। कुछ स्थलों पर कथानकों द्वारा वैराग्य भाव को बतलाया गया है। जिसका अध्ययन, मनन-चिंतन एवं भली प्रकार से श्रवणकर आत्मानुभूति को समझ सकता है। आत्मा ही परमात्मरूप है। जबकि गीता आत्मा को परमात्मरूप स्वीकार कर परमात्मा में लीन होने को कहती है। जो परमात्मा में लीन हो जाता है, परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उत्तराध्ययन में प्रथम विनयश्रुत में आत्मार्थी के लिए (मुक्ति के साधक के लिए) कर्तव्यों की ओर प्रेरित किया गया है।

आणाणिद्देसकरे गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥

गीता और धम्मपद भी कर्त्तव्यों का बोध कराते हैं। गीता का प्रथम-द्वितीय अध्याय बोध को संकेत करते हैं। जिस समय अर्जुन शोकयुक्त हो जाता है तब उसे अपनी आत्मा का बोध कराया जाता है कि हे अर्जुन! आत्मा का कभी वध नहीं किया जा सकता है। इसलिए सम्पूर्ण भूतप्राणियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्त्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं हैं।[१] आगे कर्मफल का निषेध किया है। कर्म करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है, फल की इच्छा का नहीं। कर्मफल आसक्ति का कारण होता है।[२] "**कम्मसंगेहि सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।**"[३] अर्थात् कर्मों के सम्बन्ध से मूढ़ प्राणी दुःखी और अत्यन्त वेदना को पाते हैं। धम्मपद के पण्डितवर्ग में व्यक्ति को क्या करना चाहिए, क्या नहीं? इसका उल्लेख बहुत ही मार्मिक रूप से प्रस्तुत किया है।

निधीनं व पवत्तारं यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादि मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे ॥
तादिसं भजमानस्य सेय्यो होति न पापियो ॥१॥

अर्थात् जो निधियों के बतलाने के समान वर्जनीय बातों को बतलाने वाला है, जो निगृह्यवादी और मेधावी है—ऐसे, इस प्रकार के बुद्धिमान का साथ करना चाहिए। ऐसे मनुष्य का साथ करने वाले को पुण्य मिलता है, पाप नहीं। तथा '**धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा**' अर्थात् धर्म का पालन करने वाला प्रसन्नचित्त होकर सुख से सोता है। उत्तराध्ययन में धर्म के आश्रय रहने वाले को सुखदायक और महान् निर्वाण गुणों की प्राप्ति होती है। "**सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेज्ज निव्वाणगुणावहं महं।**" २०।९९।। और कर्मों में आसक्त जीव के लिए कहा है कि जो अति आसक्त होता है वह जंगल के तालाब के ठंडे पानी में पड़े हुए और मकर द्वारा ग्रसे हुए भैंसे की तरह अकाल में ही मृत्यु पाता है।[४]

दुःख और दुःख के कारण—सभी जीव सुख चाहते हैं, तथा दुःख से डरते हैं। पर दुःख से बचने का उपाय नहीं जानते। इसलिए जन्मजन्मांतर से इस संसार में जन्म-मरणरूप दुःख को भोग रहे हैं। इसका मूल कारण अज्ञान दशा है। अज्ञान के कारण ही भौतिक पदार्थों की ओर सुख मानकर दौड़ता रहता है। इसकी इस तृष्णा का कहीं अंत नहीं। अज्ञानी सोचता है कि "**जणेण सद्धिं होक्खामि, इह बाले पगब्भइ।**" अर्थात् जो दूसरों का हाल होगा वह मेरा भी होगा" इस प्रकार सोचने वाले "**लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए।**" अनंत संसार में ही भटकते रहते हैं। उनके दुःखों का अन्त करने वाली संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है।[५]

यदा च पच्चति पापं अथ बालो दुक्खं निगच्छति। बालवग्ग-१०।। अर्थात् जब पापकर्म का परिपाक होता है, तब वह मूर्ख मनुष्य दुःख को प्राप्त होता है। धम्मपद में एक उदाहरण है कि "बूंद-बूंद गिरने से घड़ा भर जाता है और मनुष्य थोड़ा-थोड़ा भी संचय करते हुए पाप का घड़ा भर लेता है।[६] तब वह पापरूप दुःख से कैसे मुक्त हो सकेगा? जब तक बाह्य वस्तुओं के प्रति मोह रहेगा, तब तक दुःख रहेगा। गीता में लिखा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।५।२२।।

अर्थात् जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले हैं सब भोग ये निःसंदेह दुःख के कारण हैं। बुद्धवग्ग[७] में दुःख को चार भागों में बाँट दिया है—

(१) दुःख
(२) दुःख की उत्पत्ति
(३) दुःखनिवृत्ति
(४) दुःखनिवृत्ति के उपाय

ये चार आर्य सत्य भी कहे जाते हैं। दुःख—जन्म, जरा, मरण, शोक-परिदेव, दौर्मनस्य, (रोना-पीटना दुःख है, पीड़ित होना दुःख है), चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, ये सब दुःख हैं और सब दुःखों का कारण तृष्णा है। इसलिए तृष्णा को जड़ से खोदने का उपदेश दिया है—

तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थो व वीरणं॥

गीता में दुःख के कारण को एक पंक्ति में कह दिया—

"**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।**" गीता-अ० १३।८

उत्तराध्ययन में इसी भाव को इस रूप में व्यक्त किया है कि जन्म दुःखरूप है, बुढ़ापा दुःखरूप है, रोग और मृत्यु ये सभी दुःखरूप हैं आश्चर्य है कि सारा संसार दुःखरूप है।[८] दुःख का मूलभूत कारण तृष्णा है।[९]

तीनों दृष्टिकोणों से दुःख के कारणों को उपस्थित कर दुःख बतलाया, पर दुःख से छूटने का उपाय क्या है? इससे पूर्व दुःख-सुख की वास्तविकता को समझ लेना आवश्यक होगा। "**यदिष्टं तत्सुखं प्राहुः द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते**"—जो कुछ हमें इष्ट प्रतीत होता है, वही सुख है और जिससे हम द्वेष करते हैं अर्थात् जो हमें रुचिकर नहीं, वह दुःख है। दुःख संसार का कारण है और सुख आत्मानंद का कारण। आत्मानंद से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। जब तक व्यक्ति राग-द्वेष की समाप्ति नहीं कर देता, तब तक वह सुख को प्राप्त नहीं कर पाता है। इसलिए राग-द्वेष का नाश करें।[१०] यही सुख का साधन है। परन्तु जो मनुष्य दूसरों को दुःख देने से अपने सुख की इच्छा करता है, वह वैर के संसर्ग में पड़ा हुआ वैर से नहीं छूटता। ऐसा मनुष्य जो कर्त्तव्य है उसे छोड़ देता है, और अकर्त्तव्य को करने लगता है।[११] गीतारहस्य में तिलक ने सुख-दुःख के विषय में लिखा है "चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय लगे अथवा अप्रिय, परन्तु जो कार्य जिस समय जैसे आ पड़े, उसे उसी समय मन को निराश न करते हुए (कर्त्तव्य को न छोड़ते हुए) करते जाओ।……संसार में अनेक कर्त्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें दुःख सहकर भी करना पड़ता है।"[१२] '**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।**" ५।२०। सुख पाकर हर्षित नहीं होना चाहिए और दुःख से खिन्न नहीं होना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाली और यही दुःख को क्षय कर अनंतसुख को प्राप्त करने वाली है। श्रेष्ठ आचार वाली आत्मा मित्र और दुराचार वाली आत्मा शत्रु है।[१३] (**तुममेव मित्तं तुममेव सत्तु**) इसलिए दुःख के जो मूलभूत कारण है, उन्हें नाश कर देना ही सुख का साधन है। बुद्धने पापवग्ग में उपदेश दिया है कि "मनुष्य कल्याणकारी कार्य करने के लिए ऐसे कारणों को जुटाये जिससे सुख की उपलब्धि हो सके और दुःखरूप संसार से शीघ्र ही मुक्त हो सके। यह दुःख संसार में नाना गतियों में भटकाता रहता है।[१४] ऐसे कार्य करना सरल है जो बुरे हैं और अपने लिए अहितकर हैं। जो हितकारी और अच्छे हैं, उनमें हमारी बुद्धि ही नहीं जाती। क्योंकि उनका करना अत्यन्त कठिन होता है "**न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।**" अर्थात् "दुराचार में प्रवृत्त आत्मा अपना जितना अनिष्ट करता है, उतना अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता।" मनुष्य का जन्म अशाश्वत और दुखों का घर है तथा यह संसार अनित्य और सुख रहित है।……सुख कोई सच्चा पदार्थ नहीं है फलतः सब तृष्णाओं, कर्मों को छोड़े बिना शांति नहीं मिल सकती।[१५]

मोक्ष और मोक्षोपाय—अज्ञान रूप दुःख की निवृत्ति का नाम मोक्ष है। जैनदर्शन में आत्मा की विशुद्ध एवं स्वाभाविक (**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**) तथा सम्पूर्ण कर्मों की समाप्ति का नाम मोक्ष माना है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण को (**निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा**—धम्मपद-गा० १८४) मोक्ष कहा है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति ही 'निर्वाण' है। 'निर्वाण' ज्ञान के उदय से होता है। गीता में नैष्कर्म्य, निस्त्रैगुण्य, कैवल्य, ब्रह्मभाव, ब्राह्मीस्थिति, ब्रह्मनिर्वाण को मोक्ष कहा है। वेदों के पढ़ने में, यज्ञों में और दानों में फल निश्चित हैं, पर ब्रह्मज्ञानी उस सबको उल्लंघन कर जाता है और वह सनातन परमपद को प्राप्त हो जाता है।[१६] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की योग्यता को जब व्यक्ति प्राप्त कर लेता है तो वह मोक्षपथ या मोक्ष की ओर अग्रसर हो जाता है। उत्तराध्ययन के अट्ठाइसवें अध्ययन में मोक्षमार्ग का भली प्रकार से चित्रण किया गया है। तथा कहा है :—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥

अर्थात् मोक्षार्थी ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्मास्रव को रोकता है और तप से विशेष शुद्धि करता है। २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४ में अध्ययनों क्रमशः आत्मोत्थानकारी प्रश्नोत्तर, तपश्चर्या

का स्वरूप और विधि, चारित्र की संक्षिप्त विधि प्रमाद की व्याख्या और उससे बचकर मोक्ष प्राप्त करने का उपाय, कर्मों के भेद-प्रभेद, गति, स्थिति आदि, छः लेश्याओं का स्वरूप, फल, गति, स्थिति आदि और ३५ वें अध्ययन में नियम-उपनियम बतलाये गये हैं। गीता के सोलहवें अध्याय में परमात्म-साक्षात्कार के हेतुओं का विवेचन किया है। यद्यपि दैवी सम्पदा है। "**ज्ञानयोग व्यवस्थिति**" में स्थित व्यक्ति सच्चिदानन्द को प्राप्त कर लेता है। दैवी सम्पदाएँ मोक्ष का कारण हैं और आसुरी सम्पदा संसाररूप एवं बन्धन का कारण मानी गई है।[१७] मुक्ति अथवा मोक्ष सर्वोपरि आत्मा के साथ संयुक्त हो जाने का नाम है। डॉ० राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन में लिखा है कि मुक्त व्यक्ति समस्त पुण्य-पाप से परे है। पुण्य भी पूर्णता के रूप में परिणत हो जाता है। मुक्त पुरुष जीवन के केवल नैतिक नियम से ऊपर उठकर प्रकाश, महत्ता और आध्यात्मिक जीवन की शक्ति को पहुँचता है।[१८] डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने जैनदर्शन में मुक्ति का मूल साधन 'स्वपर-विवेकज्ञान' कहा है। अतः यह सिद्ध है कि आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति और तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

बौद्धधर्म का साधना पक्ष आष्टांगिक मार्गरूप है—(१) सम्यक्दृष्टि, (२) सम्यक्संकल्प, (३) सम्यक्-वचन, (४) सम्यक्व्यवहार, (५) सम्यक्आजीव, (६) सम्यक्व्यायाम, (७) सम्यक्स्मृति, (८) सम्यक्समाधि। ये दुःख-निरोध के कारण हैं। पण्डितवग्ग में निर्वाण के विषय में लिखा है "**खीणासवा जुतीमंतो ते लोक परिनिब्बुता**"। अर्थात् जिनके चित्त का मैल नष्ट हो गया है, जो दीप्तिमान् हैं ऐसे मनुष्य संसार में निर्वाण को प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिसका मार्ग समाप्त हो चुका है, जो शोकरहित है, तथा सर्वथा विमुक्त है, सब ग्रंथियों से छूट चुका है, उसके कोई संताप नहीं हैं।[१९] एवं "**रहदो व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो।**" अर्थात् जलाशय के समान कीचड़ से रहित मनुष्य को संसार नहीं होता। "**यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते** (गीता) अपितु विपरीत बुद्धिवाला, आलसी, अज्ञानी और मूर्ख जीव श्लेष्म में लिपटी हुई मधुमक्खियों की तरह संसार में फँसते जाते हैं, काम-भोगों का त्याग करने वाला **जे तरंति अतरं वणिया व**"[२०] अर्थात् व्यापारी के जहाज की तरह तिर जाते हैं।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त—कर्म या पुनर्जन्म का सिद्धान्त शाश्वत नियम पर आधारित है। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही कर्मफल की प्राप्ति होती है। शुभकर्म के कारण अच्छा फल मिलेगा और अशुभ कर्म के कारण बुरा फल। उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययनों में कर्म की बात का स्पष्टीकरण किया गया है। यह जीव संसार में नाना प्रकार के कर्म करके अनेक गोत्र वाली जातियों में होकर व्याप्त हुआ है। कर्मों के अनुसार यह जीव कभी देवलोक में और कभी असुर की पर्याय को तो कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, आदि की पर्याय को प्राप्त होता रहा और अनेक पर्यायों में अपने ही कारण से भटकता रहा, मनुष्य जन्म को पाकर भी अज्ञानता के कारण यत्र-तत्र भ्रमण करता रहा। ग्यारहवें अध्ययन में मनुष्य जन्म की सार्थकता को बतलाया है। जिन कर्मों के कारण संसार में भटक रहा है उसका विवेचन तेंतीसवें अध्ययन में भेद-प्रभेद के साथ किया गया है और अन्त में यह उपदेश दिया गया है कि हे भव्य पुरुष! कर्मों के विपाक को जानकर इनको क्षय करने का प्रयत्न करे। चौंतीसवें अध्ययन में लेश्या द्वारा मनुष्य के भावों को समझाया तथा कहा है कि जो पुरुष जिस रूप का विचार करता, वह कृष्ण, नील, कापोत, पीत-पद्म और शंख इन छः रूप को धारण कर लेता और इन्हीं काषायिक भावों के द्वारा नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों को प्राप्त करता रहता है। जो अपने आत्मस्वरूप को समझने लगता और जिसकी दृष्टि राग-द्वेष एवं मोह से रहित हो जाती है वह कर्म से मुक्त हो जाता है और उसका जन्म-मरण रूप रोग मिट जाता है। जो सार से सार को तथा असार से असार को जानते हैं। सम्यक् संकल्पों को देखने वाले वे लोग सार को प्राप्त करते हैं।[२१] **इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्दमोहेन भारत।**[२२] अर्थात् संसार में इच्छा-द्वेष का उत्पन्न होना अज्ञानता का कारण है। **रागद्वेषवियुक्तैः**[२३] राग-द्वेष से विमुक्त कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। राग-द्वेष से युक्त मनुष्य शास्त्र के अर्थ को भी विपरीत मान लेता है। राग-द्वेष दोनों ही वैरी है।[२४] शंकरभाष्य में कर्म के विषय में स्पष्ट कथन किया है कि कर्म आरम्भ किये बिना जन्म-जन्मान्तर के संचित पापों का नाश नहीं हो सकता। पाप-कर्मों का नाश होने पर मनुष्यों के अन्तःकरण में ज्ञान प्रकट होता है। इसलिए ही नियतकर्म का आचरण श्रेष्ठ कहा है, उसके प्रति आसक्ति नहीं, क्योंकि कर्मफलआसक्ति कर्मबंधन का कारण है।[२५] गीता का केवल तीसरा अध्याय ही नहीं, अपितु इसके सभी अध्याय निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देते हैं, जो परमात्म या परब्रह्म के साक्षात् का कारण है।

जैनदर्शन की तत्त्वदृष्टि प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण कर देती है। जीव-अजीव इन तत्त्वों के आधार पर विश्व का सही-सही ज्ञान हो जाता है। पर समझना है कर्म के कारणों को। आस्रव द्वारा कर्मों कर आना होता है और

बन्ध में कर्म आकर इस तरह बँध जाते हैं जैसे दूध में पानी उसे अलग-अलग नहीं किया जा सकता। बंध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं और ये बंध के कारण अपनी-अपनी कर्मशक्ति के अनुसार बँधते हैं। इनके अभाव होने से व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। तब कर्म-संस्कार आत्मा पर नहीं पड़ते।[२६] डॉ० रामनाथ शर्मा ने लिखा है कि "संसार एक रंगमंच के समान है जिस पर सभी को अपने कर्मानुसार निश्चित पार्ट अदा करना पड़ता है।…………कर्म के सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी लगा हुआ है। कर्म के बंधनों के कारण आत्मा को बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। मोक्ष होने पर ही पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है।[२७] धम्मपद के यमक-वर्ग में पुनर्जन्म का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया है "सारे कार्यों का आरम्भ मन से होता है। मन श्रेष्ठ है। सारे कार्य मनोमय होते हैं। मनुष्य यदि दुष्ट मन से बोलता है तो दुःख इसका पीछा करता है जैसे कि चक्र बैल के पैर का पीछा करता है।"[२८] जन्म के बाद मरण और मरण के बाद जन्म निश्चित होता है। कर्म नियमानुसार ही कर्मफल को भोगना पड़ता है। समस्त कर्मफल को एक साथ नहीं भोगा जा सकता। जिस क्रम से कर्मफल को भोगता है, उसी क्रम से कर्मफल का अन्त भी होता है। गीता में आत्मा की शाश्वतता के बतलाने के बाद कहा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को छोड़कर नये कपड़े धारण करता है उसी प्रकार यह आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण कर लेती है। अतः जन्म-मरण का चक्र अनादि से चला आया है। जो जन्म-मरण का अन्त कर देता है वही परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। आत्मा "**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता व न भूयः।**" गीता २/२० तथा धम्मपद के आत्मवर्ग में स्वयं को उद्बोधन किया गया है "**अत्ताहि अत्तनो नाथो**……और गीता के छठे अध्याय के पाँचवें-छठवें श्लोक में भी इसी प्रकार का कथन किया है।

नैतिक समन्वयात्मक दृष्टि—तीनों नीतिपरक रचनायें हैं। सदाचार, सत्कर्म एवं ज्ञान को विशेष महत्व दिया गया है। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में गुरु-शिष्य की विशेषताओं को बतलाया गया है। शिष्य को उपदेशित किया है कि गुरु के निकट रहकर गुरु की आज्ञा-पालन करे, जो आज्ञा को नहीं मानता वह तत्त्वज्ञान को नहीं समझ सकता। इसलिए विनय का आचरण करना चाहिए।[२९] चौथे अध्ययन में साधु के गुणों का विवेचन किया है कि साधु विवेक को बन्द करके लुभाने वाले विषयों में मन नहीं लगावे, क्रोध को शान्त करे, मान को हटावे, माया का सेवन नहीं करे और लोभ का त्याग करे।[३०] उत्तराध्ययन की तरह गीता में अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के अधीन एवं दूसरों की निन्दा करने वाला, भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष को न इहलोक है और न परलोक है और न सुख ही।[३१] आलसी और वीर्यहीन रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है, पर वीर्ययुक्त और दृढ़तापूर्ण रहकर एक दिन का जीवित रहना श्रेष्ठ है। सदाचारी और संयत, बुद्धिमान और ध्यानी इत्यादि अनेक उदाहरणों को प्रस्तुत कर यह बतलाया गया है कि जीव को अपने जीवन का महत्व समझना चाहिए। ज्ञानी पुरुष दुर्लभ है। वह सब जगह पैदा नहीं होता।[३२] ऐसे अनेकों नीतियुक्त वचनों का कथन तीनों ग्रन्थों में मिल जाता है। इन तीनों की समन्वयात्मक दृष्टि है। उत्तराध्ययन स्याद्वाद एवं अनेकान्तदृष्टि से वस्तुतत्व को समझने के लिए प्रेरणा देता है। केवल यही बात नहीं है, अपितु उन विभिन्न आदर्शों को तर्क-वितर्क एवं उपदेशात्मक शैली से बतला दिया कि जिसे सर्वसाधारण पढ़कर या गम्भीर रूप से सुनकर आत्म-कल्याण की भावना को पैदा कर लें। गीता कर्म-योग की शिक्षा अन्त तक देती है, और व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का बोध कराती है। धम्मपद सत्कर्म की ओर प्रेरित करता है "**न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाःचन।**" वाली युक्ति मानव कर्तव्य का बोध दिलाती है। गीता "**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**" और उत्तराध्ययन "**अप्पणा सच्चमेसेच्चा, मित्तिं भूएहिं कप्पये।**" अतः तीनों का प्रतिपाद्य विषय आत्मकर्तव्य ही है। प्रत्येक मानव का लक्ष्य कर्तव्य को जानना है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ **गीता** अ० २।३०-३१
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ! । तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
२ **वही** अ० २।४७-४८
३ **उत्तराध्ययन** ३।६

४ **उत्त०**३२।७६ से ८४ के भाव को देखिये । ५ **वही** अ. ६।३ से १४ तक

६ **धम्मपद पापवग्गो** ६—उदबिन्दु निपातेन उदकुम्भोपि पूरति ।
बालो पूरति पापस्स थोकं थोकं पि आचिनं ॥

७ **धम्मपद—गा० १९१** : दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं ।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमागमिनं ॥

८ **उत्तरा० अ० १९ गा० १६** : जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो……… ।

९ **वही**—अ० ३२ गा० ३० से १०७ तक १० **उत्त०** ११—३७ "रागं दोसं य छिंदिया ।"

११ **धम्मपद** गा० २९१-२९२ परदुक्खूपधानेन अत्तनो सुखमिच्छति ।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न परिमुच्चति ॥
यं हि किच्चं अपविद्धं अकिच्चं पन करीयति ॥

१२ **गीतारहस्य हिन्दी पृ० ११२ प्रथम संस्करण**

१३ **उत्त०** अ० २०। **गा०** ३७ अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥

१४ **धम्मपद—गा०** ११६ ।

१५ **तिलक**—गीता रहस्य, पृ० १०६-१०७ १६ **गीता** अ० ८/२८

१७ **गीता** अ० १६ श्लोक १ से ५ तक दैवी सम्पदा—अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! संपदमासुरीम् ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

१८ डॉ० राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन पृ० ५३१ ।

१९ **धम्मपद**—अरहन्तवग्गो गा० ९० : "गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।
सब्बगन्धप्पहीनस्स परिलाहो न विज्जति ॥"

२० **उत्त०**—अ० ८ गा० ५-६ ।

२१ **धम्मपद**—गा० १२ २२ **गीता** अ० ७/२७ २३ **गीता** अ० २/६४

२४ **गीता शांकरभाष्य**—अ० ३/२४—"रागद्वेष प्रयुक्तो मन्यते शास्त्रार्थ अपि अन्यथा ।
रागद्वेषौ ह्यस्य परिपन्थियो ॥"

२५ **गीता भाष्य**—३/८ : नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

२६ **डॉ० महेन्द्र कुमार**—जैनदर्शनः कर्मवाद विशेष पठनीय है ।

२७ **भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व**—पृ० ५

२८ **धम्मपद**—गा० १—मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व बहतो पदं ॥

२९ **उत्त०** अ० १/७ : "तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभेज्जओ ।" ३० **वही०** अ० ४/१२

३१ **गीता** ४/४०—"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

३२ **धम्मपद गा०** १० से १६ तक ।

३३ वही गा० १९३ 'दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति ।'